भा० दि० जैन संघ ग्रन्थमाला का आठवाँ पुष्प

भगवान महावीर के जीवन का एक सुंदर अंश

पिता ने कहा—"विवाह कर राज्य सँभालो!"
कुमार महावीर ने उत्तर दिया—"नहीं!"
और वे जन कल्याण के लिये चल पड़े।
बस, इतनी-सी ही कथा है इन १२६४ पंक्तियों में।

लेखक
धन्यकुमार जैन 'सुधेश'
नागौर

प्रकाशक
भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ,
चौरासी, मथुरा

प्रकाशक :

मंत्री, साहित्य-विभाग,

भा. दि. जैन संघ,

चौरासी मथुरा.

प्रथम संस्करण] महावीर जयंती, २४७७ [मूल्य एक रुपया

मुद्रक :

प्रभुदयाल मीतल

अग्रवाल प्रेस,

मथुरा

भगवान् महावीर

समर्पण

★

चिर कुमार ! तव त्याग विपुल है,
एव मेरी मति है अल्प ।
किन्तु तुम्हारे ही प्रभाव से,
पूर्ण हुआ है मम सङ्कल्प ॥
वीर ! तुम्हारा चिर विराग लिख,
सफलित है मेरा कवि-कर्म ।
अत: तुम्हें ही अर्पित कर यह,
पाल रहा हूँ अपना धर्म ॥

तुम्हारे चिर विराग का आकांक्षी—

धन्यकुमार

अपनी बात—

मेरी प्रथम और तुच्छ कृति "विराग" प्रकाशित होने जा रही है, यह जान कर मुझे प्रसन्नता है। सोचता हूँ कि इस अवसर पर अपनी ओर से भी काव्य के विषय में कुछ लिख दूं। पर क्या लिखूँ? समझ ही नहीं पा रहा। कारण–मैंने क्या लिखा है? और कैसे लिखा है? इसे मैं स्वयं नहीं जानता। जो कुछ भी लिखा गया है, उसका प्रधान कारण है विराग की साकार प्रतिमा कुमार महावीर के चरण कमलों के भ्रमर हृदय की महती प्रेरणा। मैं इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि विश्व का कल्याण भगवान महावीर ने किया, कुमार महावीर ने नहीं। फिर भी मैं उनकी कुछ विशेषताओं के कारण कुमार महावीर से ही अधिक प्रभावित हूँ। अतएव मैंने उन्हीं की पुण्य-कथा को टूटे फूटे शब्दों में व्यक्त कर अपनी लेखनी को पावन किया है। और अब ये मेरे टूटे फूटे शब्द आज प्रकाशन के योग्य सिद्ध हो रहे हैं, यह भी कुमार महावीर के प्रति भक्ति का ही वरदान है, जिसे पाकर आज मुझे अपनी साहित्य–साधना पर संतोष हो रहा है।

यहाँ यह बतला देना भी असंगत न होगा कि उसी दिन मेरा यह काव्य विराग पूर्ण हुआ था जिस दिन कुमार महावीर को जग में पूर्ण विराग हुआ था। वह दिन है मगसिर कृष्णा दशमी, वीराब्द २४७६ का।

मैं "जैन संदेश" के सुयोग्य सम्पादक प० बलभद्र जी का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने धारावाहिक रूप में इसे प्रकाशित कर अपने पाठकों तक पहुँचाने का कष्ट उठाया।

मैं उन समस्त विद्वानों का आभार भी नहीं भुला सकता जिन्होंने अपनी शुभ सम्मतियाँ प्रदान कर मुझे प्रोत्साहन दिया है।

इस अवसर पर विशेषतया मैं श्री अ. भा. दि. जैन संघ के महामन्त्री श्रद्धेय प० राजेन्द्रकुमार जी शास्त्री, साहित्य विभाग के मन्त्री श्री प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, जैन सदेश के सम्पादक प० बलभद्र जी एव जैन भारती के सफल प्रचारक प० भैयालाल जी भजन सागर के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु हो रहा हूँ, जिनके सौजन्यपूर्ण सत्प्रयत्नों से "विराग" प्रकाशित होने जा रहा है।

यदि पाठक कुमार महावीर की विशाल अन्तरात्मा का इससे कुछ अनुमान लगा सके तो मैं अपने इस लघु प्रयास को अत्यधिक सफल समझूँगा।

नागौद—
कार्तिक शुक्ला एकादशी
वीराब्द २४७७

—लेखक

प्राक्कथन

★

भगवान महावीर इस देश में प्रादुर्भूत महान विभूतियों में से एक हैं। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उन्होंने ऐहिक एवं पारलौकिक कल्याण का एक ऐसा सीधा मार्ग बताया जो देश-काल की सीमा मे आबद्ध नहीं है। उनका यह मार्ग युग-युगों तक लोक के द्वारा आदृत होगा।

महावीर जी का जन्म प्राचीन भारत के प्रसिद्ध वृजि या वज्जि गणराज्य मे हुआ था। इसकी राजधानी वैशाली थी। वज्जि, लिच्छवि, विदेह, ज्ञातृ (या ज्ञातृक) आदि आठ क्षत्रिय राज-कुलों ने मिल कर वैशाली के इस शक्तिशाली राज्य की स्थापना की थी। बौद्ध तथा जैन साहित्य में इस गणराज्य के सम्बन्ध मे प्रचुर उल्लेख प्राप्त होते हैं।

महावीर जी के पिता सिद्धार्थ ज्ञातृकुल के थे तथा माता त्रिशला वज्जि कुल के प्रमुख चेटक की पुत्री थी। यदि बालक महावीर चाहते तो अपनी वंश-परम्परा के अनुसार गृहस्थी के सभी आनन्द प्राप्त कर सकते थे। अपनी असाधारण प्रतिभा का उपयोग राजनैतिक क्षेत्र मे करके वे अपने गणराज्य को अधिक शक्ति सम्पन्न बना सकते थे। परन्तु उन्हें तो एक बहुत बड़ा कार्य सम्पादित करना था। वे तत्कालीन समाज की दयनीय स्थिति से बहुत प्रभावित हुए। हिंसा, असमानता और भोग की प्रवृत्तियाँ, जो समाज को जर्जरित किये हुए थीं, उन्हें असह्य लगती जा रही थीं। उन्होंने इनको दूर करने की ठान ली और इसके लिये वे सब कुछ सहने को तैयार हो गये।

अपने उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिये उन्होंने जो त्याग किया वह भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त गौरवपूर्ण गाथा है। उनके माता-पिता तथा अन्य लोग उनकी विचार-धारा से सहमत नहीं थे। गुरुजनों ने उन्हें लाख समझाया, पर वे अपने मन्तव्य पर दृढ़ रहे। उन्हें कितने ही प्रलोभन दिये गये, परम्परा की कितनी ही दलीलें सामने रक्खी गई परन्तु वे 'महावीर' को विचलित न कर सकीं। उन्होंने अपने लिये जो मार्ग चुन लिया, उससे कोई भी उन्हें न हटा सका।

अन्त में 'सन्मति' महावीर ने इस संसार का त्याग कर दिया। उन्होंने सत्य, अहिंसा, त्याग, सेवा और समानता का जो संदेश दिया वह मानव-समाज के लिये आदर्श प्रकाश स्तंभ है।

श्री धन्यकुमार जैन ने उपर्युक्त गाथा को सुन्दर काव्य का रूप दिया है। आरम्भ से लेकर अन्त तक उनकी कविता में एक ओजपूर्ण प्रवाह है। काव्य में विविध कथनोपकथन तर्क-सम्मत होने के साथ सुरुचिपूर्ण हैं और उनमें तत्कालीन समाज की दशा प्रतिबिम्बित है। भगवान महावीर के आरभिक जीवन का हिंदी में ऐसा छंदोबद्ध सरस वर्णन अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। आशा है, लेखक इस प्रकार के अन्य काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन कर हिंदी-साहित्य की श्री वृद्धि करेंगे।

मथुरा संग्रहालय,
६ अप्रेल १९५१

कृष्णदत्त वाजपेयी

प्रथम सर्ग

[३३६ पंक्ति]

''मैं चाह रहा हूँ जग को,
दे दूँ सब करुणा ममता।
सुख देकर औ' दुख लेकर,
द्रुत करूँ परस्पर ममता।।''

—करुणा प्लावित महावीर

भय रहित निशा जब लेटी,
गणिका सी फैला अलके।
वादित्रों को सुन सोये,
नर नारी मूँदे पलके॥
मन मोहक निशा-नटी से,
हारे दिनेश रण करने।
वीरों सम क्रुद्ध हुये फिर,
रजनी का दुर्मद हरने॥
केवल खग बोले उनके—
जो की कुभावना कहने,
वह जिससे जाग, भगी, तज-
नव तारावलि के गहने॥
कातर रवि उन्हें उठाने।
एकाकी नभ में आये।
कलरव कर विहगावलि ने-
सुंदरतम गायन गाये॥
दल बना, सरों में आयी
रस-पान हेतु अलि-माला।
अंबुज मधुपात्र बने, थी—
शशिमुखी प्रकृति मधुबाला॥

कलिकाओं का ले चुम्बन,
किरणों ने सम्पुट खोले।
हो मारुत से संस्पर्शित,
लतिकाओं के दल डोले॥

पनिहारिन आयीं, घट ले-
जल भरने को पनघट में।
झुक झुक जब लगीं डुबोने,
वे रज्जु बाँध कर घट में॥

अवगुण्ठन तब हट जाने—
से स्वर्ण हार यों चमके।
ज्यों पावस ऋतु के श्यामल,
मेघों में विद्युत दमके॥

आगे बढ़ भानु-किरण भी—
उनका मुख पङ्कज छूती।
मानों सुरपुर से आयीं,
बन किसी देव की दूती॥

वह कुण्डनपुर के विस्तृत,
पथ पर इस भाँति विचरती।
कामिनियों कमलों कलियों,
किसलय संग क्रीड़ा करती॥

आ पहुँची राज-भवन में,
सुनती भ्रमरों का गाना।
अतएव मार्ग के श्रम को,
उसने न अल्प भी जाना॥

फिर शयन कक्ष तक आयी,
वह मन्थर गति से चलती।
पहुँची गवाक्ष से भीतर,
नव द्युति का स्रोत उगलती॥

मणि-किरणों से टकरायीं,
नीलम मणियों के तम में।
कुछ क्षण तक वहाँ ठिठक कर,
वह पड़ी रही विभ्रम में॥

अनुरंजित होकर उसका—
भी वर्ण हुआ था नीला।
करता था चकित वहाँ का-
वह वातावरण रँगीला॥

मणिमय पर्यङ्क बिछा था,
जिस पर कुमार थे लेटे।
निज सीमित तन में जग का-
सौन्दर्य असीम समेटे॥

इस भाँति न जाने कब तक,
वह रूपामृत को पीती।
जिसने सुरपुर के अमृत,
की महिमा भी थी जीती॥

पर इतने में ही सन्मति-
ने सुन्दर दृग-युग खोला।
जिसमें ही झलक रहा था,
अन्तस्तल उनका भोला॥

जग-चिन्तन से ही निद्रा,
पर्याप्त नहीं थी आयी।
उसके ही चिन्ह वदन पर,
देते थे अभी दिखायी॥

अब रहना चाह रहे थे,
वे निर्जन में एकाकी।
पर इसमें भी थी बाधक,
इच्छा माँ और पिता की॥

अनुराग विराग झगड़ते—
थे उनके अन्तस्तल में।
मानस विक्षुब्ध हुआ था,
भावों की उथल पुथल में॥

कुछ मन में सोच रहे थे,
नीचे को शीश झुकाये।
पर इतने में कुछ कहने—
को वहाँ पिताजी आये॥

आसन दे उन्हें, विनय से,
मधु शब्दों में यों बोले।
स्वर में संगीत मिलाये,
वाणी में मिश्री घोले॥

"किस कारण आप पधारे,
मेरे विश्राम-सदन में।
क्या मुझे सुनाने को भी,
नूतन विचार कुछ मन में॥

उठ रहीं आज क्या मानस-
में अद्भुत भाव-हिलोरें।
या बाँध रही है उर को,
नव चिन्ता की कुछ डोरें॥

तव हृद्गत सुनने का भी,
यदि होऊँ मैं अधिकारी।
अविलम्ब उसे तो कह दें,
जो मन में बात विचारी॥"

यों सुत के भावों को जब,
सिद्धार्थ नृपति ने देखा।
तो उनके मञ्जुल मुख पर,
खिच गयी मोद की रेखा॥

बोले-"कुमार! मैं तुमसे-
क्या कुछ भी छिपा सकूँगा?
जो इच्छा मन में चिर से,
तव सम्मुख उसे रखूँगा॥

सम्भव, न विदित हो तुमको,
वय का प्रति समय बदलना।
पर अभी असम्भव मेरे—
अनुभवी दृगों को छलना॥

आ गया तुम्हारे तन में—
अब यौवन धीरे धीरे।
मन्मथ से मनहर लगते,
तुम धारण कर ये हीरे॥

हो गयी आज है सचमुच,
परिणय के योग्य दशा अब।
वह दिन शुभ कितना होगा?
आयेगी पुत्रवधू जब ॥

कब नाती के आलिंगन—
से शीतल होगी छाती?
मैं निज सौभाग्य मनाता,
यदि घड़ी शीघ्र वह आती ॥

जिस दिन सन्तान तुम्हारी-
इस प्राङ्गण मे खेलेगी।
उस ही दिन मेरे उर की,
मुरझायी कली खिलेगी ॥

मै नही चाहता हूॅ उन—
अधिपो के नाम गिनाना।
सोचा, जिनकी कन्याओ-
ने प्रियतम तुम्हे बनाना।

नृप-दूत सभा मे आकर,
नित उनके चत्र दिखाते।
मैं हार चुका हूॅ प्रतिदिन—
उनको निराश लौटाते।

अब तुम्ही बताओ मुझको
कब तक इस भाँति रहोगे?
कब तक नारी की छाया-
से कोसो दूर भगोगे?

किस दिन पा पुत्रवधू को
अन्त:पुर शोभित होगा ?
किस दिवस तुम्हारे द्वारा,
जायेगा शासन भोगा ?

कमनीय कामिनी कोई,
जब तुमसे कण्ठ मिलेगी।
तब हर्ष अश्रु से उर की—
चिन्ता—दावाग्नि बुझेगी ॥

दिन मे दस बार तुम्हारी-
माँ मुझसे यह कह लेती।
क्या सुत के योग्य कुमारी-
कोई न दिखायी देती ?

इतना ही नहीं, अनेको—
सुन्दरियाँ स्वय गिनायी।
जो एक एक से बढ़ कर,
थी उसे हृदय मे भायी ॥

क्या नहीं मिला है तुमको-
अन्तस्तल प्रेमी नर का ?
जो नहीं लुभाता चुम्बन,
नारी के अरुणाधर का ॥

जिस आशा से ही माँ ने,
दिन गिन-गिन तुमको पाला
क्या उसकी उन आशाओं-
पर डालोगे अब पाला ?

अधिकार साम्य भी बनने-
का उससे छीने लेने।
हृदयस्थ कल्पना को भी
साकार न होने देने॥

रह जायेंगे क्या मेरे—
वे स्वर्णिम स्वप्न अधूरे?
अब भी मैं जिन्हें समझता
द्रुत होने वाले पूरे॥

तुमको न इष्ट क्या मेरे—
अभिलाषा—तरु का फलना
क्या उर को द्रवित न करता,
माँ और पिता का जलना?

क्या देख सकोगे माँ के—
नयनों से आँसू बहते?
क्या नृपकुमार भी कोई—
देखे अविवाहित रहते?

मन में क्या सोच रहे हो,
अब आज झुका शिर नीचे?
क्या उर कठोर है इतना?
जो मेरा मोह न खींचे॥

है तुम पर ही तो निर्भर,
इस नाथ वंश का बचना।
क्या इष्ट तुम्हें इस कुल का
भी काल—उदर में पचना॥

मैं नित्य कामना करता,
कुल चलता जाये ऐसे।
पर इसका अन्त न जाने—
भाता है तुमको कैसे?

फिर, नर के लिये कभी भी
नारी न बनी है बाधा।
बतलाती है यह हमको—
सीता औ' राजुल गाथा॥

वह धर्म-साधना में भी,
पति की सहायिका बनती।
वात्सल्य-भाव सिखलाती,
नव शिशु को जब वह जननी

दुख में भी करती सेवा,
सङ्कट में साहस भरती।
पति के ही हित में जीती,
पति के ही हित में मरती॥

यदि ज्ञान कदाचित तुमको
उसकी महिमा का होता।
तो नहीं लगाते यों तुम,
वैराग्य-सिन्धु में गोता॥

जो पूर्व पुण्य से पाया,
वह यौवन व्यर्थ न खोते।
क्यों तुम्हें विरक्ति न जाने
इतना धन वैभव होते?

जो बात हृदय में थी वह,
सब मैंने तुम्हे सुनायी।
मुझको है ऐसी आशा,
वह तुम्हे समझ मे आयी॥

यदि मेरी आशा सच है,
तो अब तुम हामी भरदो।
इस वृद्ध पिता की अन्तिम-
अभिलाषा पूरी करदो॥

यदि किया विवाह न तुमने,
तो होगा व्यर्थ विभव भी।
निस्सार लगेगा मुझको,
यह दुर्लभ मानव-भव भी॥

दो किसी भाँति भी चाहे,
पर तुम से स्वीकृति लेनी।
अब इच्छा या कि अनिच्छा-
से भिक्षा यह हा देनी॥"

यह सुन 'कुमार' ने सोचा,
समझाऊँ इनको कैसे ?
ये महा मोह के कारण,
हैं मान न सकते ऐसे॥

केवल ममता वश इनने,
ये तर्क दिये है थोथे।
निष्कारण हा रच डाले,
ये लम्बे चौड़े पोथे॥

हो पिता, माँगते सुत से-
भिक्षा निज अञ्चल फैला।
इसका भी हेतु यही जो,
है वातावरण विषैला॥

अतएव इन्हें समझाऊँ,
कर ग्रहण विनय की सीमा।
इस समग्र मनोरथ कह दूँ,
स्वर बना मधुरतम धीमा॥

फिर कहा-'पितृवर ! तुमसे,
हो जाता मैं सहमत तो।
पर प्रेम वल्लभा-सुत का,
देना है बाँट जगत को॥

मैं निज सौभाग्य समझता,
यदि कर भी सकता इतना।
देखो तो, प्रेम जगत को,
आवश्यक है अब कितना?

वैवाहिक बन्धन से यदि,
मुझको परतन्त्र करोगे।
मुझसे रक्षा पाने का—
जग का अधिकार हरोगे॥

क्या उचित कर्म यह होगा?
सोचो तो, इसको मन में।
अधिकार न केवल नारी-
का है, इस जग के धन में॥

पशुओं के मृदुल गलों पर,
यों चलते रहे दुधारे।
नयनों में अश्रु बहाते—
जायें वे टप टप खारे॥

रमणी के साथ हर्ष में,
अपनाकर के निर्ममता।
कहिये, क्या समुचित जग में,
इतनी भी अधिक विषमता?

आवश्यक इनकी रक्षा—
करना मानव के नाते।
अतएव अजों के बच्चे,
वधुओं में अधिक लुभाते॥

रच अश्वमेध को होमे—
जाते हैं अश्व अभागे।
उर को मसोस रह जाते,
पाते न मार्ग भी भागे॥

महिषों का शोणित पीते,
वधिकों के प्यासे भाले॥
पूजक की क्षुधा मिटाने—
को ही वे जाते पाले॥

ये एक ओर हैं इतने,
औ' अन्य ओर है नारी।
अब तुम्हीं बताओ, इनमें—
से कौन प्रेम-अधिकारी?

क्या तुम्हें इष्ट ? ले मेरा—
अनुराग एक ही बाला ।
या इसे बाँट कर जग में,
जाये दुख-सङ्कट टाला ॥

मैं चाह रहा हूँ जग को,
दे दूँ सब करुणा ममता ।
सुख देकर औ' दुख लेकर,
द्रुत करूँ परस्पर समता ॥

स्वच्छन्द रहें ये पशु खग,
जग चाहे सब कुछ ले ले ।
अब कहो, यहाँ ये खेलें,
या केवल नारी खेले ॥

कन्यायें रह न सकेंगी,
जीवन भर सदा कुमारी ।
उनको तो वर ही लेगा,
कोई सौन्दर्य — पुजारी ॥

पा जायेंगी वे निश्चय,
अनुराग किसी के उर का ।
उनको तो द्वार खुला है,
अधिपों के अन्तःपुर का ॥

बन जायेंगी वे द्रुत ही—
नर—नाथों की पटरानी ।
पर प्राण-दान पशु जिससे,
पा सकें न ऐसा दानी ॥

अतएव आप ही मुझको—
दे भिक्षा केवल इतनी।
देखें, अविवाहित रह मैं,
कर सकता सेवा कितनी ?"

जब सुने पिता ने सुत के,
ये शब्द भावमय इतने।
तो उनको किया प्रभावित,
तत्क्षण ही जग के हित ने॥

अब लगने लगे वृथा से,
उनको कुतर्क वे सारे।
वे जीवन मे निज सुत से,
यह प्रथम बार थे हारे॥

निकला न वचन का सौरभ,
उनके मृदु वदन-कमल से।
कुछ देर वहीं पर निश्चल,
बैठे रह गये अचल से॥

नव भाव हृदय मे क्रमश
चल-चित्रों से थे आते।
जो चिर अतीत की झाँकी,
उनको प्रत्यक्ष दिखाते॥

सुत के प्रत्येक कथन पर,
ना जाने सोचा कितना ?
पर तथ्य निकलता उतना—
ही, आज सोचते जितना॥

जब उत्तर उन्हे न सूझा,
त्रिशला को इसे सुनाने।
जा पहुँचे अन्त.पुर मे,
उसकी भी सम्मति पाने ॥

———

द्वितीय सर्ग

[४०८ पंक्तियाँ]

"मैं चाह रहा हूँ कोई,
हो इतना दुखी न जग में।
करुणा का स्रोत बहे हर,
मानव में, पशु में, खग में॥"

—कुमार महावीर

तब महिषी देख रही थी,
मोहक मुख मंजु मकुर में।
पीछे में देख छटा को,
नृप मुदित हुये निज उर में॥

उनने समीप जा चुपके-
से मूँदे युगल नयन भी।
तब अकस्मात सस्पर्शित-
हो कांपा उसका तन भी॥

कुछ लज्जा सी भी आयी,
कानों में छायी लाली।
प्रियतम का हस्त हटा फिर,
ली कर में पूजन - थाली॥

ले पात्र आरती का भी,
मणि-निर्मित दीप जलाया।
कर सविधि अर्चना, सविनय,
चरणों में शीश झुकाया॥

उसका सत्कार ग्रहण कर,
नृप बोले मधुमय वाणी।
'हो चुका अधिक, अब बैठो,
मेरे समीप कल्याणी॥

लगता है, सफल न होगी,
हम दोनों की अभिलाषा।
परिणत हो रही निराशा-
में मेरी सारी आशा॥

सोचा था, वृद्धावस्था—
में हम निश्चिन्त रहेंगे।
नाती क्या, पंती का भी,
मुखड़ा हम देख सकेंगे॥

पर सन्मति की सम्मति सुन,
लग रहा असम्भव यह सब।
अविवाहित रहना उसको,
क्या करूँ प्रिये! तू कह अब॥

मैंने तो उसे न जाने,
समझायीं बातें कितनी,
पर रुची न कोई, विषयों-
में उसे घृणा है इतनी॥

ग्रामी सी भयप्रद लगती-
है उसको रमणी वामा।
किस भाँति न जाने यौवन
में उसने उर यों थामा॥

कहता-'रमणी को ममता,
देना, ज्यों दूध उरग को।
मेरे ममत्व पर केवल,
अधिकार निपीडित जग को॥

मैं नहीं समझता था, वह-
यों रुखा उत्तर देगा।
मम ममता भरे निवेदन,
को पल में टाल सकेगा॥

बोलो, उपाय क्या कोई ?
जिससे वह रमणी-रत हो।
रमणी के साथ रमण हो,
उसके जीवन का व्रत हो॥

भय मुझे, न वह बन जाये,
यौवन में कहीं विरागी।
माँ पिता राज्य-सुख भोगें,
सुत बना फिरे गृह-त्यागी॥

तुम जाओ, कुछ समझाओ,
जिससे वह त्यागे प्रण को।
करले स्वीकार विवाहित-
जीवन भी दो ही क्षण को॥

फिर तो कोई नव बाला,
कर लेगी स्वयं वरण भी।
जो उसको रोक सकेगी,
हाथों से पकड़ चरण भी॥"

यह सुनकर त्रिशला बोली-
"जाती हूँ अभी शरण में।
समझाऊँगी यह उसको,
है पाप न पाणि-ग्रहण में॥

मानेगा मेरा कहना,
वह इतना शान्त सरल है॥
प्रियतम ! न वज्र से निर्मित,
उसका वह हृदय-पटल है॥

जब देखेगा वह मेरे-
नयनों से नीर बरसते।
जननी को पुत्रवधू के—
दर्शन के लिये तरसते॥

तब वह स्वीकार करेगा,
पल भर में मेरी बातें।
रमणी के साथ बितायें—
गा शीघ्र चाँदनी रातें॥

वह आज समझता है जिस-
नारी को एक पहेली।
उसको ही मानेगा कल,
जीवन की सुखद सहेली॥

बस, लो, अब मैं तो जाता,
क्या तुम भी साथ चलोगे।
या फल सुनने की इच्छा-
में तब तक यहीं रुकोगे॥"

नरपति ने कहा-"कि जाओ,
प्रिय मुझे यहीं पर रहना।
हो क्या ही उत्तम, यदि वह-
ले मान तुम्हारा कहना॥

सुत के समीप वे पहुँची,
फिर रोती और बिलखती।
अज्ञात भीति के कारण,
पग धीरे धीरे रखती॥

जाने क्यों उर की धड़कन,
हो रही आज थी दूनी।
जल रहा हृदय था ऐसा,
ज्यों धधक रही हो धूनी॥

साड़ी से पोंछ युगल दृग,
कर किसी भाँति उर वश में।
बोली-"कुमार! तुम बहते-
इस समय कौन से रस में?

जग में तो रहती आयी,
युग युग से सदा विषमता।
यह बात न कोई नूतन,
सब जग को जो दे ममता॥

सर्वत्र सबल के द्वारा—
ही जाते निबल दबाये।
है किसमें बल भी इतना,
जो यम से उन्हें बचाये॥

इन पशुओं को तो जलना,
पर तुम भी व्यर्थ जलोगे।
है मरण भाग्य में जिसके,
क्या उसके लिये करोगे॥

जग में न कभी भी पाये,
सुख दुख समान भी सब ही।
जो लिखा भाग्य में जब को,
मिल जाता है वह तब ही॥

जो इन्हे सताते, वे भी,
इसका फल स्वयं चखेंगे।
कैसे बबूल के तरु मे,
स्वादिष्ट रसाल लगेंगे?

फिर क्यों तुम इनकी चिन्ता,
करते हो मेरे हीरे?
इस भाँति विरागी बन कर,
मम हृदय डालते चीरे॥

मत करो दुखी तुम मुझको,
दे उत्तर ऐसा कोरा।
मानो न मोह को मेरे,
तुम अति ही कच्चा डोरा॥

है तुम पर ही तो निर्भर,
मेरी आशाएँ सारी।
तुम उन्हें पूर्ण अब कर दो,
मै होऊँगी आभारी॥

दिन गिन गिन दशा हुई जब,
परिणय के योग्य तुम्हारी।
तब कहते हो मम ममता,
पाने के योग्य न नारी॥

निज सुत अविवाहित हो यह,
जननी के लिये असह ही।
मुख पुत्रबधू का देखे,
माँ बनने का फल यह ही॥

जब नव विवाहिता वधुओं—
को देखूँगी इठलाते।
सिर पर सिन्दूर लगाये,
मेंहदी से हाथ रचाते॥

तब स्वत जलेंगे उर मे,
दुख के अति भीषण शोले।
क्या उस क्षण भी कह दोगे ?
जितना भी रोना रो ले॥

अपना अधिकार न दो, पर—
मेरा अधिकार न हर लो।
बस, मुझको सास बनाने—
को ही विवाह तुम कर लो॥

है लगी तुम्हारे परिणय—
की चिन्ता जगते सोते।
दृग जल में रिक्त हुये है,
मुख अश्रु धार में धोते॥

जाने क्यों इतने निष्ठुर,
तुम होकर इतने ज्ञानी।
तुम माँ न बने हो, इससे,
जननी की व्यथा न जानी॥

यदि काश! कहीं विधि तुमको,
अन्तस्तल माँ का देता।
मेरा ममत्व तो तुम पर,
द्रुत विजय प्राप्त कर लेता॥

सोचा था, जिस दिन मेरा-
यह पुत्र बनेगा दूल्हा।
उस दिन से मुझे जलाना—
माँ नहीं पड़ेगा चूल्हा॥

आ वह मधुरतम व्यञ्जन,
तैयार करेगी क्षण में।
मैं बैठी नूपुर बजते—
देखूँगी युगल चरण में॥

मेरी यह इच्छा पूरी—
करने की तुममें क्षमता।
अतएव न अब ठुकराओ,
बन निर्मम माँ की ममता॥

मुख से निकालते कैसे—
अक्षर नकारमय तीखे?
क्या स्वीकृति-सूचक अक्षर,
हाँ नहीं आज तक सीखे?

देखो तो, मेरे सन्मति।
ग्रन्थों के पृष्ठ पलट कर।
थे कृष्ण गोपिका-वल्लभ,
शिव पारवती के सहचर॥

इनकी कमनीय कथाएँ,
हमको यह सदा सिखातीं।
नर का अपूर्ण सा जीवन,
नारी ही पूर्ण बनातीं॥

आशा है तुमको मेरी—
सम्मति अब उचित लगेगी।
कम से कम मेरी ममता,
अब तुमको द्रवित करेगी॥

कह दिया मनोरथ मैंने,
सुनना अभिप्राय तुम्हारा।
स्वीकृति दो, जिससे होवे,
इस वय में बधू सहारा॥"

सन्मति ने शान्त हृदय में,
ये शब्द सुने थे सारे।
जननी के करुण दृगों में,
देखे थे आँसू खारे॥

अब भी न चाहते थे पर,
विषयों में यौवन खोना।
दूषित न वासना से था,
मानस का कोई कोना॥

बोले—"हे जननि! न तुमको,
मेरा अभिप्राय रुचेगा।
उपदेश विरागी नर का,
क्या रागी मान सकेगा?

यह व्यर्थ सोचती हो तुम,
होवेगी बधू सहारा।
स्वार्थों का बना जगत यह,
क्या तुमने नहीं विचारा॥

पा भी क्या पुत्र-बधू को,
इच्छा की प्यास बुझेगी?
यह बुझी न अब तक, एव—
आगे भी बुझ न सकेगी ॥

जब तक न जगत में जीवों—
की जीवन-शक्ति निकलती।
तब तक ही इच्छा प्रतिपल,
नव रूप ग्रहण कर छलती ॥

अतएव हृदय में टालो,
आवरण मोह का काला।
पहिनाओ नहीं कपोलों—
को अश्रु कणों की माला ॥

सोचो न, यहाँ पर सत्वर,
वैवाहिक वाद्य बजेंगे।
वर-यात्रा में भी चलने—
को रथ गज तुरङ्ग सजेंगे ॥

मैं दूंगा प्रेम उन्हीं को,
जो आज प्रेम के भूखे।
बरसूंगा वहीं जलद सा,
पड़ रहे जहाँ पर सूखे ॥

यद्यपि न झूठ है यह भी,
तुम जो कुछ मुझसे कहतीं।
सुत-बधू देखने को सब,
माताएँ उत्सुक रहतीं ॥

पर देखो, तो निर्दोषो—
पर आज दुधारे चलते।
नव-जात अजों के तन में,
अममय ही प्राण निकलते॥

यों लगता, ऊपर आये,
जो नरक अभी थे नीचे।
ईश्वर के आलय भी तो,
शोणित से जाते सींचे॥

बध करते समय रुधिर के,
कुछ कण जा लगते छत से।
मानो यह वसुधा रहने—
के योग्य न उनके मत में॥

प्रेमाधिकारिणी नारी—
को मान रहीं तुम जैसे।
वैसे ही पात्र दया के,
ये बकरे, घोड़े, भैंसे॥

जो शोणित से इस भू के,
पग करते नित्य पखारा।
कहते, यह तुझे समर्पित,
जो दिया खिलाकर चारा॥

आकृतियाँ इनकी सकरुण,
दिखती हैं मोते जगते।
तब ही तो रमणी से भी-
रमणीय मुझे ये लगते॥

— सत्ताईस —

मै चाह रहा हूँ, कोई—
हो इतना दुखी न जग मे।
करुणा का स्रोत बहे हर,
मानव मे, पशु मे, खग मे॥

इस प्रकृति-राज्य मे कोई—
भी नही बडा या छोटा।
अधिकार एक मे सबको,
हो दुबला या हो मोटा॥

पर मनुजो के ही द्वारा—
ये नियम उलंघित होते।
वे ही इस शान्त जगत मे
कण्टक अशान्ति का बोते॥

अतएव उन्हे ही मुझको,
करुणा की ज्योति दिखानी।
उनके विकराल करो से,
पशुओं की जान बचानी॥

ज्यो मुझे देख अविवाहित,
तुममे अङ्गारे जलते।
त्यो ही तो देख दुखी को,
मम उर मे आरे चलते॥

क्या सुत को दुखी करोगी,
सोचो तो, शान्त हृदय हो।
दो दान पुत्र का जग को,
तो जननि ! तुम्हारी जय हो॥

— अट्ठाईस —

मैं मान रहा हूँ तुमने,
पालन में विपदा झेली।
यह सोच-सोचकर उर में,
आयेगी बहू नवेली॥

पर तेरी इस आशा पर,
फेरा है पानी मैंने।
इतना ही नहीं, चलाये—
भी वचन-बाण अति पैने॥

हो रहे जर्जरित जिससे,
तव अन्तस्तल के कोने।
भय मुझे, दुखी हो फिर से,
तू कहीं न लगना रोने॥

जननी ! मैं आज विवश हूँ,
देने को उत्तर ऐसा।
तू सोच न अपने उर में,
बन गया पुत्र यह कैसा?

इस जग को मुझे बताना,
खुद जियो और दो जीने।
नर को क्या, पशुओं को भी,
दो इच्छित खाने पीने॥

सन्देश सुना यह जग को,
सब वातावरण बदलना।
इससे ही मेरे पथ में,
बाधक ही होगी ललना॥

देखो तो, देश—दशा अब,
गिरती जाती है कितनी ?
दयनीय दृश्य हो दिखते,
यह दृष्टि फैलती जितनी ॥

मायावी मोद मनाते,
दुख भोग रहे है भोले।
नृप सोते केलि-ह्ो मे,
निज प्राण-प्रियाओं को ले ॥

अतएव छुडाना मुझको,
अधमो से शीघ्र अधमता।
इसमे अविवाहित रहने—
मे होगी मुझे सुगमता ॥

तू स्वार्थ त्याग कर किंचित्,
जग को आदर्श दिखादे।
क्षत्राणी, जग कल्याणी—
बनकर सन्ताप भगादे ॥

हो पाप—भार से हल्की,
यह शस्य श्यामला धरणी।
यह सम्भव तब ही, जब तू—
रहन दे मुझको वर्णी ॥

भारत की वीर—जननियो—
मे अपना नाम लिखादे।
कल्याण करूँ मै जग का,
यह ही वर मुझको माँ ! दे ॥

अधिकारों की दे भिक्षा,
मुझको ही समझ भिखारी।
अब मुझे बहू भी, सुत भी,
ले मान आज से माँ री!

उस नाती और बहू को,
देनी हो ममता जितनी।
वह दुखी प्राणियों को दे,
विनती है मेरी इतनी॥

है देय दान भी उसको,
आवश्यकता हो जिसको।
अतएव विचारो मन में,
आवश्यक ममता किसको?

आवश्यक क्या न उन्हे? जो—
निष्कारण मारे जाते।
जिनके स्वर हृदय-विदारक,
नभ में सर्वत्र सुनाते॥

अब अन्तिम बार जननि! मैं,
कहता हूँ यही विनय से।
मेरे विवाह की चिन्ता—
तज दे अब आज हृदय से॥

इसके अतिरिक्त तुझे जो—
चिन्ता, वह मुझे बतादे।
तेरा यह आज्ञापालक,
बालक द्रुत उसे भगादे॥"

ये शब्द श्रवण कर त्रिशला-
में आयी कुछ सुस्थिरता।
मन शान्त हुआ, जो जाने-
था कहाँ कहाँ पर फिरता ॥

बोली-"न और कुछ चिन्ता,
मेरे नयनों के तारे!
बस, करे न कोई जीवन-
भर हमको तुमको न्यारे ॥

तुममें ही चले युगों तक,
शुभ नाम जगत में कुल का।
दुख-नद के पार पहुँचने,
निर्माण करो तुम पुल का ॥

यों फिर तो मुझको जीवन—
भर जलना चिन्तानल में।
पर एक बार इस निश्चय—
पर सोचो अन्तस्तल में ॥

बदले विचार, तो कहना,
अब मैं निराश हो जाती।
यदि तुम अबोध शिशु होते,
तो यहाँ बैठ समझाती ॥"

यह कह जा अन्तःपुर में,
नृप को सब हाल बताया।
बोली-"न सुनी कुछ उसने,
मैंने तो बहुत मनाया ॥"

नृप को भी पीडा पहुँची,
सुन समाचार दुखदायी।
बोले—"निज सुत से तूने,
यह प्रथम पराजय पायी॥"

सूझा न उपाय उन्हें कुछ,
लग गया बुद्धि पर ताला।
लगने सा लगा, हृदय में—
चलता हो मानो भाला॥

जितनी सुलझायी, उतनी—
हो उलझी और पहेली।
अतएव विवश हो उनने—
इससे विरक्ति भी ले ली॥

था इष्ट न उनको बाधक,
बनना कुमार के पथ में।
अतएव विवश हो चलते—
थे नियति-नटी के रथ में॥

जब कभी कभी गे लेते—
थे राजा रानी मिल कर।
चुपचाप ताप थे सहते,
वक्षस्थल पर हो सिल धर॥

वे कहते भी तो किससे,
निज मानस की अभिलाषा।
हो विवश देखते, अब क्या-
दिखलाते कर्म तमाशा॥

तृतीय सर्ग

[२२८ पंक्तियाँ]

"इस चिर अशान्ति का जग में,
किस दिन विलोप अब होगा ?
निर्दोष मूक इन पशुओं—
को अभय प्राप्त कब होगा ?"

—व्यथित महावीर

सन्मति वैराग्य—उदधि में,
जाते थे प्रति क्षण बहते।
जग-दशा देखते थे वे,
नृप-मन्दिर में ही रहते॥

ज्यों ज्यों ही उनने जग के-
अति नग्न दृश्य को देखा।
त्यों खिचती गयी अमिट बन,
उर पर विराग की रेखा॥

पीड़ित पशु कहीं दिखाते,
वध-भू को जाते भय से।
भक्षक सम अपने रक्षक-
की आज्ञा मान विनय से॥

शिशुओं को कहीं बकरियाँ,
देती थीं मूक विदाई।
उनको इस ओर कुवाओं,
उस ओर दिखाती खाई॥

कोई न पुरुष था ऐसा,
जो इनको आज अभय दे।
उन हृदयहीन हत्यारों—
को करुणा पूर्ण हृदय दे॥

वे कभी देख भी लेते,
मखकुण्ड रुधिर से भरते।
अविदूर मक्खियों के दल-
को सदुपयोग सा करते॥

दिख जाते कभी स्वयं ही -
पशु खडग गले में मिलते।
निर्जीव शवों के तन में,
मृदु चर्म-पटल भी छिलते॥

देखा, अब धर्म उदर के-
पोषण का एक बहाना।
हिंसा को पुण्य बताते—
वे, मांस जिन्हें ही खाना॥

है एक ओर उस ईश्वर—
के मन्दिर भरे विभव से।
जिसको कुछ नहीं प्रयोजन,
अब स्वर्ण रजत के लव में॥

औ, अन्य ओर धनहीनों—
का वर्ग दिखायी देता।
जिनके अभाग्य पर धनिकों-
का वर्ग नित्य हंस लेता॥

बन चुके धर्म-गुरु सब ही,
अन्धे विलास के मद से।
अतएव उठाते अनुचित—
ही लाभ प्रतिष्ठित पद से॥

जनता को ठगते फिरते,
रङ्गीन वस्त्र के धारी।
करते अधिकार मठों में,
बन जाते को भण्डारी॥

यदि कभी षोड़शी कोई,
बस जाती उनके मन मे।
तो देर न करते कुछ भी,
वे कामुक आत्म-पतन मे॥

अलि-शावक सम मँडराते,
वे उसके चरण कमल मे।
मठ दुराचार के अड्डे,
बन जाते कुछ ही पल मे॥

जब राजमार्ग पर पडते-
थे उनके युगल नयन भी।
तब जीवित किन्तु मृतक सम,
दिखते थे भूखे जन भी॥

था जिनको नहीं ठिकाना,
रहने का और शयन का।
दिन भर ही महना पडता,
जिनको आताप तपन का॥

प्रात. मे ठोकर खाना,
जिनका यह नित्य नियम था।
सन्ध्या को भूखे पड़ना,
जिनके जीवन का क्रम था॥

जो कर मे उदर दबाये,
रजनी भर गिनते तारे।
इस पर भी शान्ति न पाते,
भूखे मशकों के मारे॥

इस स्वार्थी जग में जिनकी-
थी चिन्ता मात्र सहेली।
जिसने थी साथ निभाने-
की भीष्म प्रतिज्ञा ले ली॥

उनके शिशु क्षुधा-व्यथा से,
जब गला फाड़ कर रोते।
मन ही मन मूक रुदन कर,
माँ पिता दुखित तब होते॥

धनशाली मन में कहते-
है इसमें महा कायरता।
पर चलता पता उन्हें, यदि-
गृह दैव न धन से भरता॥

करुणा से पूर्ण दृगों से,
देखा न वीर ने यह ही।
पर देखा, जग में दुखियों—
का रहना उन्हें असह ही॥

निर्धन में और धनी में,
है नर्क स्वर्ग की दूरी।
गृह एक अभावों का ही,
निधि भरी एक के पूरी॥

नृप अपने केलि-गृहों में,
क्रीडाओं में ही रत हैं।
आखेट, द्यूत, पल भक्षण,
ही उनके जप तप व्रत हैं॥

धनहीनों और अनाथों-
का नहीं एक भी त्राता।
सब आज परस्पर रखते,
स्वार्थों तक सीमित नाता॥

है धर्म लोटता फिरता,
वैभव के पुण्य चरण में।
श्रमणत्व नाम को भी तो,
अवशेष न आज श्रमण में॥

नर जो पशु-मुण्ड चढाते,
देवी के पास शरण में।
कहते, यह भक्ति सहायक,
इच्छित वरदान ग्रहण में॥

बन गयी सभ्यता अब तो,
मदिरा के प्याले पीना।
जीने के लिये न खाना,
पर खाने को ही जीना॥

प्राणों से प्यारे नर को,
सोने के पीले ढेले।
वह आज चाहता करना,
जिनका उपयोग अकेले॥

सबके आचार विचारों-
की ग्रन्थि हुई है ढीली।
इसलिये पापियों की ही,
दुनियाँ है रङ्ग रङ्गीली॥

मनमाना अर्थ लगा कुछ,
कर रहे आज अघ भारी।
"हिंसा नहि भवति वैदिकी-
हिंसा" कह रहे पुजारी॥

अतएव अशिक्षित जनता,
है पड़ी महा ही भ्रम में।
उसको न हिताहित कुछ भी,
दिखलाता जड़ता-तम में॥

कह हानि-लाभ को विधि कृत,
करते न मनुज-गण श्रम भी।
बन अकर्मण्य सा उनने-
अब त्यागा है उद्यम भी॥

पावन कर्त्तव्य भुला सब,
विषयों में जीवन खोते।
वे दुर्लभ रत्न समझ कर,
भ्रम से पाषाण सँजोते॥

उस तन को पुष्ट बनाते,
खा प्रतिदिन दूध मलाई।
आलेपन तैल लगा कर,
ला रहे अधिक चिकनाई॥

मर जाने पर फिर परभव-
में जिसको साथ न देना।
बस, यथाशक्ति ही जीवन-
भर सुख सामग्री लेना॥

यह वृद्ध वर्ग भी इन्द्रिय—
के सुख में रहता भूला।
छाती में मूँछ उखड़वा,
निज मन में रहता फूला ॥

अब मरणासन्न हुआ पर,
भोगों के लिये तरसता।
श्लथ हुई इन्द्रियाँ सारी,
पर उर में वही सरसता ॥

केवल विलास-सामग्री—
ही मानी जाती ललना।
वह बनी असूर्यंपश्या,
तज गृह से बाहर चलना ॥

बनती कठपुतली पति की,
जिस दिन कर होते पीले।
पति-इच्छा पर ही निर्भर,
हो जाते स्वप्न रँगीले ॥

कर नहीं कभी भी सकती,
ईश्वर की पूजन अर्चन।
उसके इन धार्मिक कृत्यों-
में बाधक-परिजन पुरजन ॥

पैरों की जूती समझा—
करते हैं उसे विलासी।
यद्यपि वह सुख दे क्षण में,
करती है दूर उदासी ॥

गृहिणी को गृह में लाकर,
वे समझा करते चेरी।
जो उनकी हर परिचर्या—
में कभी न करती देरी॥

जग की इस दीन दशा से,
दुख नित्य उन्हें हो आता।
पर जग में शांति-प्रतिष्ठा—
का कोई पथ न दिखाता॥

जिस किसी भाँति थे रहते,
उर में यह आग छिपाये।
प्रायः विचारते रहते—
थे नीचे नयन गड़ाये॥

इस चिर अशांति का जग से,
किस दिन विलोप यह होगा?
निर्दोष मूक इन पशुओं—
को अभय प्राप्त कब होगा?

किस दिन इन बधिकों की यह—
शोणित की प्यास बुझेगी?
कब इनके क्रूर मुखों पर,
करुणा की कांति दिखेगी?

कब नारी अपने खोये—
स्वत्वों को प्राप्त करेगी?
कब वह निज जीवन-पुस्तक-
का नव अध्याय रचेगी?

ये प्रश्न निरन्तर उर में,
करते थे चक्कर काटा।
जिनका हल सोचा करते—
थे होने पर सन्नाटा॥

जनता तक आ न सके वे,
बन्धन थे राज भवन में।
आ बार बार रह जाते,
मन के विचार सब मन में॥

अतएव समझते थे वे,
अब राज भवन को कारा।
कर्त्तव्य खींचता बाहर,
था किन्तु न कोई चारा॥

अब भी तो यद्यपि सखा गण,
आते थे शाम सवेरे।
एवं मन भी बहलाने—
को रहते उनको घेरे॥

पर उनकी बातों में वे,
अपना कर्त्तव्य न भूले।
सुख की सरिता में बहते,
अपना मन्तव्य न भूले॥

पर उनके इच्छित पथ में,
थी बनी विघ्न पर बशाला।
वे दृश्य रुलाते उनको,
जग जिन्हें देख कर हँसता॥

दुखियों के रोदन-क्रन्दन—
चुभते थे उनको शर से।
वे जिन्हें सुना हो करते—
थे प्रति दिन सौध-शिखर से॥

कुछ दिन इस भाँति समस्या-
सुलझाने में ही बीते।
इस रण में राजभवन के,
बन्धन ही अब तक जीते॥

वे होना चाह रहे थे,
सत्वर स्वच्छन्द विहँग से।
हो चुका विराग उन्हें था,
इस सुख विलास के जग से॥

———

चतुर्थ सर्ग

[१०० पंक्ति]

"हे पिता ! न नर पर शासन ,
नर करने का अधिकारी ।
सब ही स्वतन्त्र हैं जग में
हो भूपति या कि भिखारी ॥"

—विरक्त महावीर

वे एक बार जग-चिन्तन,
में मग्न हुये थे ऐसे।
कोई भी साधक योगी—
हो ध्यान लगाये जैसे॥

इतने में स्वयं पिता ने,
'सन्मति' कह उन्हें पुकारा।
जिससे ही भङ्ग हुई द्रुत,
उनके विचार की धारा॥

आनन पर सस्मिति-रेखा,
आ गयी एक ही क्षण में।
झुक गया प्रयास बिना ही,
शिर नृप के पुण्य-चरण में॥

सुत का सत्कार ग्रहण कर,
नृप लगे स्नेह से कहने।
"हे सुत ! यह विनय-प्रदर्शन,
हो चुका अधिक, दो रहने॥

आया हूँ आज पुनः मैं,
कुछ नयी उमङ्गों को ले।
आते ही देख रहा हूँ,
व्यवहार तुम्हारे भोले॥

पर नव प्रभात इस कुल का,
क्या नहीं देखने दोगे?
राज्याधिकार के मधुरिम,
फल भी क्या नहीं चखोगे?

मैं वृद्ध हुआ, अब शासन,
मुझ से न सम्हाला जाता।
गृह कार्यों में तन मेरा—
शैथिल्य सदैव दिखाता॥

अवलोकन-शक्ति निरन्तर—
ही घटती नयन युगल की।
हो रही न्यूनता प्रति पल,
मेरे शारीरिक बल की॥

यदि कभी कार्य वश भू पर,
दस बारह डग भी चलना।
तो चरण श्रांत हो जाते,
तन से भी स्वेद निकलता॥

जर्जरित इन्द्रियाँ मेरी,
अब कार्य यथेष्ट न देती।
केवल निज पोषक तत्वों—
को ही बलात ले लेती॥

मेरी इस वृद्ध-दशा में,
यह राज्य चले अब कैसे?
अब तक तो इसे चलाया,
चल पाया मुझ से जैसे॥

मुझको तो यह ही चिन्ता,
रहती है जगते सोते।
बस, यहाँ इसी से आया,
मैं आज सवेरा होते॥

अब मै वह तुम्हें बताता,
सोचा है मैंने जैसा।
कर लो स्वीकार उसे तुम,
तो हो यह उत्तम कैसा?

नृप पद के योग्य हुये तुम,
तज शैशव की सब क्रीड़ा।
पर अब भी नृपति बना मै,
इसलिये मुझे है व्रीडा॥

इस व्रीडा और मुकुट से,
झुक रहा निरन्तर शिर भी।
यह भार निबल से कन्धों—
पर लिये रहा हूं फिर भी॥

यदि अब भी लिये रहा, तो—
यह होगी मेरी जड़ता।
जग मुझको मूढ कहेगा,
इससे विचार यह पड़ता॥

देखूं अब शीघ्र तुम्हारे—
राज्याभिषेक को होते।
सामन्तों और प्रजा को,
तव चरण-कमल-युग धोते॥

अम्बर को गुंजित होते,
सम्राट् वीर की जय से।
भाटों को अथक तुम्हारी—
गुण गरिमा गाते लय से॥

सिंहासन पर तुम बैठो,
बज उठे मधुरतम बाजे।
चरणों में शीश झुकाये,
सब राजे औ' महराजे॥

फिर मैं छुटकारा पाकर,
इस शासन की झंझट से।
आरम्भ-परिग्रह तज कर,
रण ठानूँ कर्म सुभट से॥

कल्याण करूँ कुछ अपना,
भोगों की ममता त्यागे।
जिससे पा कोई शुभगति,
तिर सकूँ भवोदधि आगे॥

फिर तुम वयस्क हो गये,
हो जनता को भी प्यारे।
पहुँचेगी अब तुम्हीं से,
शासन की नाव किनारे॥

जन हित में त्याग किया है,
तुमने यों रहकर क्वारे।
इसलिये प्रजा को लगते,
मुझ से भी अधिक दुलारे॥

तुमसे गुणवान नृपति को,
जब पायेगी वैशाली।
तब निज सौभाग्य समझकर,
हो जायेगी मतवाली॥

अम्बर में सदा तुम्हारी,
फहरेगी विजय—पताका।
तुम से महान हित होगा,
इस शासन और प्रजा का॥

गृह गृह में बहा करेगा,
सुख और शान्ति का झरना।
दुर्जन भी सज्जन बन कर,
तज देंगे दुष्कृत करना॥

आयेंगे शत्रु नृपति भी,
ले ले कर अनुपम भेंटे।
कोई न कहेगा—'राजन!
अरि जन कृत सङ्कट मेटें॥'

ग्रन्थों में मात्र मिलेगी,
ये ईति भीतियाँ सारी।
अपकृत भी देख तुम्हें द्रुत,
बन जायेगा उपकारी॥

हो पूर्ण प्रभावित, चिर तक,
जग गायेगा तव गुण को।
वह चाहेगा फिर शासक,
तुम से ही नीति-निपुण को॥

भूलेगा युग न तुम्हारी—
यह अनुपम त्याग कहानी।
है कौन? कि जो रह क्वारा,
यों करे व्यतीत जवानी॥

— प्रनाम —

मन्मथ को जीत न पाये,
केशव भी एवं शिव भी।
उसको भी तुमने जीता,
अति निर्बल तृण के इव ही॥

इसलिये तुम्हारे चरणों—
में सभी रखेंगे शिर को।
जय-लक्ष्मी भी तव भुज-युग,
पा सुस्थिर होगी चिर को॥

अनुचर गण पूर्ण करेंगे,
तत्काल मनोरथ सारे।
मृदु स्रक् सम ग्रहण करेंगे,
सिर से आदेश तुम्हारे॥

आदर्श बनेगा अधिपों—
को तव दिनचर्या तक भी।
तुम सा ही राज्य चलाने-
की होगी उन्हें सनक सी॥

इसलिये सम्हालो शासन,
मेरे नयनों के तारे।
मैं केवल स्वीकृति पाने—
को आया निकट तुम्हारे॥

हे वत्स! शीघ्र दो अपनी—
स्वीकृति सङ्कोच रहित हो।
मैं उत्सव की सामग्री,
एकत्रित करूँ मुदित हो॥

नर्तकियों को बुलवाऊँ,
राजाङ्गण में जो नाचें।
कुल गुरु से कहूँ कि अब वे,
राज्याभिषेक विधि बाँचें॥

ले कलश सुहागिन बधुएँ,
आ, गायें द्रुत मिल जुल के।
सुन जिसको रसिक जनों के-
हर रोम रोम भी पुलके॥

कर रहा प्रतीक्षा केवल—
तव स्वीकृति मय उत्तर की।
फिर तो सुरपुर सी सुषमा,
होगी अविलम्ब नगर की॥

अब देर करो मत कुछ भी,
भर दो बस, इस क्षण हामी।
मैं तुम्हें मुकुट पहिना, कर,
दूँ बना राज्य का स्वामी॥'

यह कह सिद्धार्थ नृपति ने,
हो शान्त, मौन सा धारा।
फिर लगे बोलने सन्मति,
जो कुछ था अभी विचारा॥

"हे पिता! न नर पर शासन,
नर करने का अधिकारी।
सब ही स्वतन्त्र हैं जग में,
हो भूपति या कि भिखारी॥

जब मुझे चतुर्दिक रोदन,
दुख क्रन्दन आज सुनाता।
यह आर्य क्षेत्र भी रौरव,
सा पीड़ित क्षुभित दिखाता॥

जिस ओर स्वयं ही सहसा,
पड़ जाते लोचन मेरे।
उस ओर वधिक दिखलाते,
पशुओं को बल से घेरे॥

अज-शिशु ले जाये जाते,
जो छुड़ा जननि के थन से।
वे मुझको मौन निमन्त्रण,
देते जल पूर्ण नयन से॥

ये अश्वमेध के घोड़े,
अन्तिम क्षण करके हिन हिन।
मुझको आमन्त्रित करते,
मरने की घड़ियाँ गिन गिन॥

मैं बारम्बार निमन्त्रण—
पा भी, न कभी जा पाया।
इच्छा रख भी, न किसी को,
मरने से कभी बचाया॥

मैं सोच रहा, क्या मेरा—
उर निर्मित है पत्थर से?
जो नहीं आज तक पिघला,
दुखियों के करुणिम स्वर से॥

सिंहासन पर अब बैठूं,
यह मुझसे नहीं बनेगा।
वह जग की दीन-दशा में,
काँटों सा मुझे गड़ेगा॥

ये इधर नीलमणि निर्मित,
नभ चुम्बी राज सदन है।
उस ओर फूस की कुटियों
में नंगे भूखे जन हैं॥

यदि नर के नृप बनने में,
होते उत्पन्न भिखारी।
तो मुझे आपकी आज्ञा-
भी पालन में लाचारी॥

तज रहा राज सिंहासन-
का भी अनुराग हृदय में।
कर दें अपराध क्षमा यह,
कहता हूँ आज विनय में॥

जब यही राज-सिंहासन,
अपना यह रूप बदलते।
तब महा युद्ध मचवा कर,
लाखों के प्राण निगलते॥

अगणित निर्दोष जनों के—
सिर पृथक कराते धड़ से,
कितनी ही धर्मी गृहस्थी,
पल में उजाड़ते जड़ से॥

रंग देते अरुण रुधिर में,
ये युद्ध क्षेत्र की धरती।
जो मध्य लोक में नर्कों—
की वसुधा का भ्रम करती॥

पा यही राज सिंहासन,
आ जाती है दानवता।
जिस से अपहसित निरन्तर,
हो होती है मानवता॥

ये ही तो भोले मनुजों—
को रावण तुल्य बनाते।
आ जन्म विरागी को भी,
सब भोग विलास सिखाते॥

दारिद्र्य, क्षुधा, निष्क्रियता,
शोषण उपजाते ये ही।
भाई का भाई के प्रति,
विद्वेष बढ़ाते ये ही॥

पूँजीपति इनके आश्रित,
रह सुख की निद्रा सोते।
पर श्रमिक कृषक गण जीवन-
भर दुख की गठरी ढोते॥

बिकता है न्याय यहाँ ही,
सब व्यभिचार पनपते।
अपराधी दण्ड न पाते,
कारा में सन्त तड़पते॥

इस जग के सारे दुर्गुण,
दुर्व्यसन यहीं पर पलते।
जनता का शोणित पाकर,
घृत-दीप यहीं पर जलते॥

मद में आ यहीं प्रजा में,
जाती है होली खेली।
झोपड़ियाँ मिटा अनेकों,
की जाती खड़ी हवेली॥

यों आज राज सिंहासन,
अभिशाप प्रजा को बनता।
जिसमें ही शोषित पीड़ित,
होती है भोली जनता॥

यह पाप पिता! लूँ सिर पर,
क्या यही आप का मत है?
यह सोचो तो राजाओं—
से कितना दुखी जगत है॥

जनता के मध्य रहूँगा,
मैं उसको सुखी बनाने।
सच्चा ही मनुज बनूँगा।
मनुजों का धर्म सिखाने॥

इस निश्चय से तुम यद्यपि,
अत्यन्त दुखी ही होगे।
पर शीघ्र किसी दिन इसकी
महिमा भी जान सकोगे॥

अब कह ले आज भले ही,
हे पिता ! इसे निर्ममता।
पर आप प्रजा में मुझ में,
देखेंगे सत्वर समता ॥"

यह कह वे मौन हुये, नृप—
को पड़ा निरुत्तर होना,
जाने, कुमार ने उन पर,
था किया कौन सा टोना ?

त्रिशला भी यह सुन कर,
अति दुखित हुई निज जी में।
हो गयीं नष्ट उन दोनों—
की इच्छा एक घड़ी में ॥

जब कह न सके वे कुछ भी,
तब निज अभाग्य को कोसा।
दुर्दैव ! बड़ी ही आशा—
में हमने पाला पोसा ॥

पर हाय ! कहाँ से आकर,
तूने यह आग लगा दी।
आशा की ज्वलित प्रभा भी,
क्षण भर में अरे बुझा दी ॥

तू आगे आगे चलता,
बन जाते हम अनुगामी।
स्वामी को सेवक करता,
सेवक को करता स्वामी ॥

क्या चाह रहा तू जग में
युग युग तक रहे विषमता।
प्राणी की इच्छा पूरी—
करने में हो न सुगमता॥

हो गये पुत्र, सिंहासन,
सरिता के युगल किनारे।
जो मिले न युगों तक पाते,
रह जाते हैं मन मारे॥

यों दोष दैव को दे वे,
अपने अभाग्य पर रोते।
या संचित कर्म-मलिनता,
प्रायश्चित—जल में धोते॥

———

पञ्चम सर्ग

[२६२ पंक्ति]

"भवनो का धाम तजूंगा,
तज दूंगा मारी माया।
मिट जाऊँगा जन-श्रद्धा—
का रूप बदल दूंगा या ॥"

—विरक्त महावीर

जा बैठे वीर किसी दिन,
चिन्तित से सौध-शिखर में।
नासा पर दृष्टि गड़ा कर,
बायाँ कपोल रख कर में॥

इतने में मूक रुदन सुन,
सहसा ही ठनका माथा।
देखा, तो अम्बरतल में,
धूँए का जाल बिछा था॥

सोचा! यह कैसे असमय—
में काल-घटा सी छायी।
तत्क्षण ही दग्ध रुधिर की,
दुर्गन्ध सदन में आयी॥

वे समझ गये, यह पशुओं—
का रोदन है नभ भेदी।
सुकुमार गर्दनें जिनकी,
भालों से जाती छेदी॥

देवी को मुण्ड चढ़ा कर,
हो रही कहीं पर पूजा।
यह मख-कुण्ड-अनल में,
जा रहा माँस भी भूँजा॥

जिसका दुर्गंध समीरण,
करता व्याप्त गगन में।
यह समझ, दया से सिहरन,
हो उठी वीर के तन में॥

फिर महा व्यथा की ज्वाला—
में लगा हृदय भी जलने ।
इस राज भवन में रहना—
भी लगा उन्हे अब खलने ॥

आभरण भार से भासे,
पत्थर से भासे हीरे ।
कुछ सोच, शिखर से नीचे,
वे उतरे धीरे धीरे ॥

मानस में फट चुका था,
करुणा का ऐसा निर्झर ।
जिसको न रोक भी सकती—
थी पथ में कोई ठोकर ॥

फिर क्या था? उनने सत्वर,
यह बात हृदय मे ठानी ।
जीवित रह सुन न सकूँगा,
दुखियों की करुण कहानी ॥

अतएव आज से यह ही,
है भीष्म-प्रतिज्ञा मेरी ।
जिसको अब शीघ्र निभाने—
मे नहीं करूँगा देरी ॥

भवनों का वास तजूंगा,
तज दूंगा सारी माया ।
मिट जाऊँगा, जन श्रद्धा—
का रूप बदल दूंगा या ॥

पर मै तो विजयी होने-
के लिये न लूंगा भाले।
हिंसा पर विजय करूँगा,
मैं शस्त्र अहिंसा का ले॥

यह सोच उन्होंने तन से,
आभरणो को द्रुत खोला।
रख उन्हे वही, उठ बैठ,
वे मन मे करुणा को ला॥

फिर गृह से बाहर निकले,
वे मोक्ष मार्ग के नेता।
सेना--धन-शस्त्र बिना ही,
बनने को विश्व-विजेता॥

यह समाचार सुन मनुजो-
मे विस्मय हर्ष समाया।
उनने घर पहुँच प्रियाओं-
को यह सम्वाद सुनाया॥

तज कार्य छतो मे आयी,
सुन्दरियो की नव श्रेणी।
कोई ले दर्पण भागी,
द्रुत त्याग गूँथना वेणी॥

कोई पनिहारिन कूए-
मे ही जलपात्र पटक कर।
रस्सी को बना सहारा,
ऊँचे पर चढी उचक कर॥

कुछ मालिन बैठी बगिया-
में बना रही थीं माला।
उनने कुमार के दर्शन-
का नूतन मार्ग निकाला॥

शाखाओं पर जा बैठीं,
मृदु सुमन करों में ले ले।
लुट गयीं चमेली चम्पा,
जूही की कोमल बेलें॥

जिस किसी भाँति भी आये,
दर्शन को लँगड़े लूले।
बालक तक सहसा अपनी-
क्रीडाओं को भी भूले॥

तिल भर न ठौर था दिखता,
छज्जों में और सड़क में।
गिनने पर अधिक फलों से,
शिर दिखते वृक्षों तक में॥

लगतीं थीं श्वेत छतें यों,
नव बधू मुखों में ढक कर।
मानो कि मित्र के दर्शन-
से पंकज खिले छिटक कर॥

जनता ने देखा, प्रतिभा-
से अखिल भीड़ को चीरे।
जाने कुमार किस धुन में,
जाते हैं धीरे धीरे॥

है नहीं देह पर भूषण,
हीरे क्या? सोने तक के।
वाहन भी नहीं दिखाता,
सम्भव है, लौटे थक के॥

पर अरे! बढ़े यों जाते,
वे रूठ गये हों जैसे।
पर नहीं रोष के लक्षण,
यह माने भी तो कैसे?

पर नहीं समझ में आया
विधि का यह नया तमाशा।
जाने का कारण सुनने-
की सब को थी अभिलाषा॥

फिर राज घोषणा इतने-
में गूँजी अम्बरतल में।
जिसके स्वयमेव श्रवण हित,
खलबली मची नर दल में॥

सुन पड़ा—'वीर ने जन हित-
में त्यागा वास सदन का।
तज ठाट राजसी सारा,
पथ, पकड़ लिया है वन का॥'

यह सुन समीप जा सबने,
श्रद्धा में कर युग जोड़ा।
कह 'धन्य' 'धन्य' निज मुख से
'श्री सन्मति' का पथ छोड़ा॥

फिर 'महावीर की जय' से,
नभ लगा गुँजरित होने।
भर गये हर्ष की ध्वनि में,
दिङ् मण्डल के सब कोने॥

कह उठे एक ही स्वर में,
मिल कर समस्त नर नारी।
'सन्मति, चिरायु हो, जिनने-
जन-हित सुख त्यागा भारी।'

चुपचाप इधर वे सन्मति,
चलते थे दुर्गम पथ में।
जो रहे आज तक चलते,
मणि जटित स्वर्णमय रथ में॥

इतने में उनने दुखियों—
को देखा करुण नयन से।
जो मलिन जर्जरित चिथड़े,
लिपटाये थे निज तन में॥

कुछ उनमें भी अधनंगे,
एवं कुछ नंगे देखे।
'जो जग के स्वार्थपने की-
प्रतिकृति थे' उनके लेखे॥

जिनको अति शीत पवन यों,
चुभता था, ज्यों शर पैने।
यह देख उन्होंने सोचा,
यह महा भूल की मैंने॥

जो ये बहुमूल्य वसन भी,
अब तक न देह से छोड़े।
इनमें सम्बन्ध अभी तक—
मैं रहा व्यर्थ ही जोड़े॥

वे वन में पहुँच रुके फिर,
मन में विचारते ऐसा।
वैसा ही ठौर मिला था,
चाहा था उनने जैसा॥

जो चञ्चल मर्कट तरुओं—
पर झूल रहे थे झूला।
अवलोक वीर को सुस्थिर,
चापल्य उन्हें भी भूला॥

शुक गाने लगे विनय में,
उनके अति पावन यश को।
स्वागत को खड़ी हुई हुलस,
वन श्री ले स्रोत-कलश को॥

विटपों ने सादर श्रद्धा—
से शीश झुकाया हिलकर।
सुमनों ने मोद जताया,
सम्पूर्ण रूप से खिल कर॥

दर्शन को भगते आये,
तृण चरना तज मृग छौने।
हो गये कालिमा-विरहित,
दिङ् मण्डल के सब कोने॥

सन्मति-प्रति भक्ति समायी,
हर प्राणी की हर रग में।
सन्देश-श्रवण की इच्छा,
जागी फिर नर-पशु-खग में॥

सुस्थिर हो बैठे उनके—
आनन पर दृष्टि जमाये।
इतने में त्रिशला नन्दन—
ने अपने अधर हिलाये॥

कानन को स्नपित कराया,
दन्तों की विमल किरण में।
जिसको था वंचित रहना,
पावन उपदेश-श्रवण में॥

फिर कहा प्रजा से 'जाओ,
कोई न किसी को मारे।
पीड़ा न किसी को पहुँचे,
ऐसे हो कार्य तुम्हारे॥"

यह सुन वहाँ किसी ने,
यह शङ्का शीघ्र उठायी।
"प्रभु आज आपने हमको,
यह कैसी बात बतायी॥

पीड़ा न किसी को पहुँचे,
क्या हो भी सकता इतना?
पीड़ा ही दे कर होता—
है कार्य न जाने कितना?

जब कंस आदि से जनता—
पहिले भी अधिक दुखित थी।
उनकी अति नीच प्रकृति से,
मानवता अधिक व्यथित थी॥

तब कृष्ण आदि ने उनके—
मस्तक कृपाण से काटे।
असुरों को मार अनेकों,
गहरे गिरि-गह्वर पाटे॥

इसलिये आपकी वाणी—
सुन मुझे हुआ यह भ्रम है।
क्या नहीं आपके मत में,
हिंसा का पात्र अधम है।"

यह सुन फिर सन्मति बोले,
उस नर की भ्रान्ति भगाने॥
भ्रम-तम में अन्धी जनता,
को सत्य स्वरूप दिखाने॥

"इससे दुर्जनता मिटती,
यह कहना नहीं उचित है।
कारण, यह जग ही अगणित—
दोषों से पूर्ण भरित है॥

इसलिये सदय हो सत्पथ—
पर जाएँ दुष्ट लगाये।
फिर शिष्ट बनाकर सद्गुण—
भी जाएँ उन्हे सिखाये॥

— अस्पष्ट —

इसमें न रहेगी जग में,
दुष्टों की कभी प्रचुरता।
मिट सकता कुछ ही दिन में,
निर्दयता, घृणा, असुरता॥

तुम सब का इसी विषय में,
यदि नित्य अल्प भी श्रम हो।
तो पीड़ा दिये बिना ही,
सारे ही कार्य सुगम हो॥

दुष्पाप अवश्य घृणित है,
पर घृणित नहीं है पापी।
यदि सद्व्यवहार करो, वह-
बन सकता पुण्य-प्रतापी॥

ज्यों नर को जीवन प्रिय, त्यों-
पशु खग को जीवन प्यारा।
इसलिये रखो मत उनके—
कण्ठों पर कभी दुधारा॥"

यह कह कर वीर हुये चुप,
तब शान्ति प्रजा ने पायी।
नूतन विज्ञान उन्हें यह—
दिखलाता था सुखदायी॥

जन बोले—'मुकुट बिना ही,
तुम बने हमारे राजा।
कर रहे हृदय पर शासन,
जो कर न सके महराजा॥

हम सब के मानस-मन्दिर—
मे यह ही ज्योति जलेगी।
जिसके प्रभाव के दर्शन—
से ही सब भ्रान्ति भगेगी॥'

यह कह कर कर-युग जोड़े,
हो उनने शान्त सरल भी।
हो गया हर्ष की ध्वनियो—
मे जङ्गल मे मङ्गल भी॥

सन्मति ने सभी उतारे,
थे वस्त्र देह पर जितने।
रह गया न तन पर डोरा,
वे बने विरागी इतने॥

मस्तक के केश उखाड़े,
अपने ही हाथो द्वारा।
यह देख विपिन मे गूँजा,
फिर तत्क्षण ही जयकारा॥

योगासन धार शिला पर,
बैठे तज हलन चलन को।
निज आत्म ध्यान मे डूबे,
निश्चेष्ट बना कर तन को॥

यह तक न ध्यान मे आया,
बीती है कितनी बेला?
कब रजनी का तम छाया?
कब प्रात हुआ उजेला?

कब वन के कुसुम खिलाने—
को आया पवन मलय का ?
रस पिया भ्रमरियों ने कब
नव विकसित कुसुम-निचय का ?

कब विहगावलि ने गायी,
मधु स्वर में पूर्ण प्रभाती ?
कब वन-श्री नूतन सुमनों—
से अपनी देह सजाती ?

दो दिन भी बीत गये जब,
यों ध्यान लगाये वन में।
तब रहा न वन में रुकने-
का धैर्य उपस्थित जन में॥

सादर प्रणाम कर, घर को—
लौटे अत्यन्त विवश हो।
पथ में सहर्ष ही गाते,
उनके महानतम यश को॥

तुम धन्य, कि जो इस यौवन-
में धारा वेष कठिन है।
है धन्य तुम्हीं से यह युग,
औ' धन्य आज का दिन है॥

है धन्य दुखीजन सारे,
पा आज तुम्हें दुख त्राता।
हो गये धन्य ये पशु खग,
स्थापित कर तुमसे नाता॥

[विराग

तब तक तव कीर्ति रहेगी ,
जब तक रवि, चन्द्र जगत है ।
वह जग का मत कल होगा ,
जो आज तुम्हारा मत है ।

— समाप्त —